भारतीय निर्यात–आयात बैंक

36वां

स्थापना दिवस
वार्षिक व्याख्यान

भारत की व्यापार नीति: कल, आज और कल

वक्ता

प्रो. अरविंद पनगड़िया

प्रोफेसर, इंडियन पॉलिटिकल इकनॉमी,
कोलंबिया यूनिवर्सिटी और पूर्व उपाध्यक्ष, नीति आयोग

इंडिया एक्ज़िम बैंक

भारतीय निर्यात-आयात बैंक का

36वां स्थापना दिवस वार्षिक व्याख्यान

19 मार्च, 2021

भारत की व्यापार नीतिः कल, आज और कल

अरविंद पनगड़िया
अर्थशास्त्र के प्रोफेसर
एसआईपीए, कोलंबिया यूनिवर्सिटी
न्यूयॉर्क, एन वाय 10027

अनुक्रम

गुमशुदा दशकः 1950-80 3

नेहरू का आर्थिक दर्शन और व्यापार नीति में
शुरुआती उदारीकरण 3

भुगतान संकट का संतुलन और
आयात नियंत्रणों में सख्ती करना 5

एक मॉडल, जिसे नाकाम ही होना था 6

दुविधापूर्ण उदारीकरणः
1980 के दशक का संक्रांति काल 13

सुनियोजित आरंभ और उड़ानः
1990 का दशक और उससे आगे 17

व्यापार नीति आजः
धीरे-धीरे बढ़ता संरक्षणवाद 21

आगे क्याः
आने वाले के लिए व्यापार नीति 25

भारत की व्यापार नीतिः कल, आज और कल

अरविंद पनगड़िया

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दुनिया का व्यापार परिदृश्य बदल गया। व्यापार नीतियों को लेकर बुद्धिजीवियों और नीति निर्माताओं के बीच विमर्श शुरू हुआ। तत्कालीन विकसित और अल्प विकसित देशों के लिए व्यापार नीति कैसी हो, इस पर बुद्धिजीवियों और नीति निर्माताओं का विपरीत नजरिया सामने आया। विकसित देशों के संदर्भ में प्रगतिशील व्यापार उदारवाद का रास्ता अपनाए जाने पर सहमति बनी। उनका विश्वास था कि इससे युद्ध से छिन्न-भिन्न हुई पश्चिमी यूरोप और जापान की अर्थव्यवस्थाओं को तेजी से उबरने में मदद मिलेगी और उत्तरी अमेरिका में भी विकास बढ़ेगा। ऐसे में तब परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त हुए अल्प विकसित देशों की एक ही चिंता थी। उन्हें सबसे पहले अपने उद्योगों को आयातों से बचाना था। यहीं से संरक्षणवादी नीति की नींव पड़ी।

ऐसे में एक व्यवस्था उभरकर सामने आई। बुद्धिजीवियों और नीति निर्माताओं ने युद्ध के तुरंत बाद टैरिफ और व्यापार पर सामान्य करार (जनरल एग्रीमेंट ऑन टैरिफ्स एंड ट्रेड - जीएटीटी) के तहत उदार विश्व व्यापार व्यवस्था को आकार देने का प्रयास किया। साथ ही, उन्होंने ऐसी व्यवस्था भी कर दी कि अल्प विकसित देश अपने उद्योगों का संरक्षण कर पाएं। विकसित देशों के लिए उदार व्यापार व्यवस्था तुलनात्मक लाभ के सिद्धांत और 1870 से 1914 के प्रथम भूमंडलीकरण के दौरान हुए विकास के अनुभव पर आधारित थी। वहीं दूसरी तरफ, बाद में विकासशील देश कहे गए अल्प विकसित देशों के लिए संरक्षण के मूल में न तो कोई सिद्धांत था और न ही कोई सकारात्मक अनुभव।

अर्थशास्त्रियों ने इन विकासशील देशों में औद्योगिक संरक्षणवाद को उचित ठहराया। इसके मूल में वह मॉडल था, जिसने इन देशों को दो क्षेत्रों- कृषि और उद्योग में व्यापारित वस्तुओं वाली अर्थव्यवस्थाओं का तमगा दिया। इसके मूल में यह विचार था कि विकासशील देशों को इन

दो क्षेत्रों में से कृषि में तुलनात्मक लाभ मिलता रहा है। इसलिए उदार व्यापार नीति से इन देशों को कृषि वस्तुओं में विशेषज्ञता मिलेगी और वे इनका निर्यात भी कर पाएंगे। किन्तु, ऐसा नहीं हो पाया। इसकी दो वजहें रहीं।

पहली, औद्योगिक देशों में समय के साथ आय बढ़ने से उनकी मांग कृषि उत्पादों से हटकर औद्योगिक उत्पादों के लिए हो गई। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि कृषि उत्पादों के लिए मांग की आय सापेक्षता कम रही। मांग में इस परिवर्तन से कृषि उत्पादों की कीमतें, औद्योगिक उत्पादों की कीमतों की तुलना में न्यूनतर होती गईं। परिणामस्वरूप, विकासशील देशों को प्रति इकाई निर्यातों से निर्यात राजस्व न्यूनतर रहा।

दूसरी, कृषि उत्पादों के लिए मांग की न्यून मूल्य सापेक्षता का प्रभाव, मांग की न्यून आय सापेक्षता के प्रभाव का पूरक होता है। चूंकि विकासशील देश कृषि उत्पादों में निवेश करते हैं और अपने निर्यात बढ़ाते हैं, इसलिए विश्व बाजार में उन उत्पादों की कीमतें असंगत रूप से गिरती चली जाती हैं। परिणाम, अधिक निर्यातों के लिए न्यूनतर निर्यात राजस्व। इन देशों के साथ भी ऐसा ही हुआ।

इस प्रकार, इस न्यून सापेक्षता का मतलब यह हुआ कि कृषि, विकास के इंजन के रूप में काम में नहीं आ सकी और फिर एकमात्र विकल्प बचा रह गया- उद्योग जगत। और चूंकि विकासशील देश तो इस औद्योगिक उत्पाद के आयातक थे, इसलिए आयात प्रतिस्थापन और संरक्षणवाद की नीति पर चलने को ही सही माना गया। इस सिफारिश को बौद्धिक स्वरूप प्रदान करने के लिए अर्थशास्त्रियों ने तब एक प्रारंभिक उद्योग युक्ति[1] सामने रखी।

इस प्रकार के विचार में प्रमुख गड़बड़ उद्योग जगत के स्वरूप की अवधारणा को ही गलत मान लेना रहा। इसे एक ही प्रकार के उत्पादों वाला मान लिया गया। जबकि वास्तविकता में, उद्योग जगत में विभिन्न अलग-अलग उत्पाद शामिल होते हैं। जैसे, टेक्सटाइल्स और क्लोदिंग, जूते-चप्पल, खिलौने और फर्नीचर जैसे उद्योग श्रम गहन उद्योग थे। जबकि स्टील, मशीनरी, परिवहन उपकरण और रसायन जैसे उद्योग

1 पनगड़िया, अरविंद, 2019, मुक्त व्यापार और समृद्धि, न्यूयॉर्कः ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, अध्याय 3 में, मैंने दिखाया है कि आपात समीचीन युक्ति के तहत, प्रारंभिक उद्योग के आधार पर संरक्षण नहीं किया जा सकता।

पूंजी गहन हैं और विकासशील देश श्रम गहन उद्योगों में लाभ की स्थिति में हैं। इसलिए वे शुरुआती दौर में श्रम गहन उद्योग में विशेषज्ञता हासिल करते, फिर पूंजी गहन औद्योगिक उत्पादों को आयात करते हुए आगे बढ़ सकते थे। इन उत्पादों पर विश्व बाजारों में न्यून आय या मांग की मूल्य सापेक्षता का असर नहीं पड़ता है, इसलिए ये ग्रोथ इंजन के रूप में काम में आ सकते हैं।

इस मामले में पूर्वी एशिया की 'टाइगर' अर्थव्यवस्थाएं, ताइवान और दक्षिण कोरिया विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों ने 1950 और 1960 के उत्तरार्ध में इस तथ्य को समझा। इन्होंने आयात के प्रतिस्थापन के सिद्धांत पर चलने के बजाय, निर्यात और विनिर्माण आधारित वृद्धि की नीति अपनाई। यह नीति सफल रही और इन देशों ने खुद को उस गति से मध्य आय वर्ग वाले देशों की कतार में ला खड़ा किया, जो पहले कभी देखी नहीं गई थी। सबसे अधिक आबादी वाले दो देश चीन और भारत ने क्रमशः 1970 और 1990 तक इन देशों के अनुभवों से सबक लेना नागवार समझा।

गुमशुदा दशकः 1950-80

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के शुरुआती दशकों में विकासशील देशों की व्यापार नीति जहां इस तरह विकसित हुई, वहीं, स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद भारत की संरक्षणवाद की नीति का मूल बहुत अलग रहा। व्यवस्थित तरीके से आयात प्रतिस्थापन के जरिए औद्योगिकीकरण की चाहत में बह जाने के बजाय भारत ने प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के आर्थिक आत्म-निर्भरता हासिल करने के सपने को साकार करने की ओर कदम बढ़ाया।

नेहरू का आर्थिक दर्शन और व्यापार नीति में शुरुआती उदारीकरण

महात्मा गांधी के साथ भारत की आज़ादी की लड़ाई लड़ने वाले नेहरू दिल से राष्ट्रवादी थे। वह चाहते थे कि भारत आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर हो। उनका मानना था कि देशवासियों के खून-पसीने से हासिल आजादी को संरक्षित रखने के लिए आर्थिक स्वतंत्रता बहुत जरूरी है। उनके इसी दर्शन ने उन्हें समाजवादी ढांचा अपनाने को प्रेरित किया और मई 1964

में अपने निधन तक, जब तक वह प्रधानमंत्री रहे, उनकी आर्थिक नीतियां इसी दर्शन पर आधारित रहीं।[2]

नेहरू ने यह ज़रूर समझा कि भारत रेलवे, हवाईजहाज और बंदूकों जैसी भारी औद्योगिक वस्तुएं देश में ही बनाए, क्योंकि वह कहते थे, “इन वस्तुओं को आयात करना विदेशों की गुलामी करना है।”[3]

इसी प्रकार, उन्होंने निर्यातों पर भी बहुत अधिक फोकस नहीं किया। इसलिए नहीं कि वे ग्रोथ इंजन के रूप में काम नहीं आ सकते थे। बल्कि इसलिए, क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं निर्यातों को लेकर आयातक देशों के साथ किसी संघर्ष की स्थिति न बन जाए। “अपने देश की अर्थव्यवस्था को निर्यात बाजारों का आधार देने से दूसरे राष्ट्रों के साथ संघर्ष की स्थिति बन सकती है और अगर वे बाजार हमारे लिए बंद कर दिए गए तो स्थिति अचानक बिगड़ सकती है।”[4] यह बात उन्होंने 1946 में अपनी पुस्तक ‘भारत एक खोज’ में लिखी थी। नेहरू के लिए नीति का अंतिम उद्देश्य था, उत्पादन को खपत की ओर मोड़ना और तब तक बढ़ाना, जब तक कि खपत और उत्पादन दोनों समान स्तर पर न आ जाएं। यह संतुलन मुख्य रूप से उत्पादन के प्रगतिशील विविधीकरण के जरिए किया जाना था।

इस रणनीति का सबसे दिलचस्प पहलू यह था कि कम से कम अपने शुरुआती वर्षों में तो सरकार ने व्यापार बैरियर नहीं लगाए। देश ने टैरिफ सामान्य ही रखे, जो सबसे पहले 1920 में शुरू किए गए थे और आयात लाइसेंसिंग व्यवस्था बनाई, जो युद्ध के समय पड़ने वाली कमी को पूरा करने के लिए 1940 के दशक में अपनाई गई थी। इन प्रतिबंधों में आयातों पर कोई वार्षिक सीमा नहीं थी। जब तक विदेशी मुद्रा विनिमय अच्छी स्थिति में रही, आयात के लाइसेंस उदारतापूर्वक जारी किए जाते रहे।

ध्यान देने वाली बात यह भी है कि ‘स्थापित आयातक’, जिन्हें दूसरे खरीदारों को बेचने के लिए वस्तुओं और उपभोक्ता वस्तुओं का आयात करने के लिए लाइसेंस दिए गए थे, उन्हें कम से कम 1957-58 तक अपेक्षाकृत मुक्त रूप से आयात करने दिए गए। इन ‘स्थापित आयातकों’ ने अधिकांश उपभोक्ता वस्तुओं का आयात किया, जबकि आयातकों

2 उनके नेतृत्व में भारतीय संसद ने सामाजिक और आर्थिक नीतिगत उद्देश्य के रूप में समाज के समाजवादी ढांचे को अपनाया।
3 पनगड़िया, अरविंद, 2008, India: The Emerging Giant, न्यूयॉर्कः ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पेज 25.
4 पनगड़िया, अरविंद, 2008, ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पेज 25

को मशीनरी की जरूरत थी और कच्चे माल का आयात 'वास्तविक उपयोक्ता लाइसेंसों' (एक्चुअल यूजर लाइसेंस) पर निर्भर रहा। 1957-58 तक मूल्य की दृष्टि से आयात लाइसेंसों का लगभग एक तिहाई हिस्सा 'स्थापित आयातकों' का ही रहा। 1960 के दशक की शुरुआत में यह हिस्सा गिरकर दसवां भाग रह गया और वास्तविक उपयोक्ता लाइसेंसों का महत्त्व बढ़ता गया।[5]

भुगतान संकट का संतुलन और आयात नियंत्रणों में सख्ती करना

भारत ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटेन को जो भी सेवाएं प्रदान कीं, उनके एवज में अच्छा स्टर्लिंग शेष जुटाया। ब्रिटिश सरकार ने दरों की सीमाएं तय कर दीं, जिन पर भारत ये शेष जुटा सकता था। हालांकि ब्रिटिश सरकार ने इन दरों को सख्ती से लागू नहीं किया। इसलिए, जब तक ये शेष रहे, भारत ने स्थायी विनमय दर पर उदार आयात व्यवस्था बनाए रखी। यह वही दर थी, जिस पर भारत ने अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) व्यवस्था के अंतर्गत प्रतिबद्धता जताई थी। लेकिन 1957 के अंत तक ये शेष इस स्तर तक गिर गए कि सामान्य कामकाज भी जारी नहीं रह पाया।

यदि भारत ने आयातों का प्रवाह अपने विकास लक्ष्यों को आगे बढ़ाने के लिए जरूरी स्तर पर बनाए रखने के उद्देश्य से व्यावहारिक रणनीति विकसित करने पर गंभीर चर्चा की होती, तो निर्यातों को बढ़ाने के लिए इसने रुपये के अवमूल्यन और श्रम गहन विनिर्माण को प्राथमिकता देने जैसे उपायों पर विचार किया होता। लेकिन नीति निर्माता व्यापार को हमेशा अवशेष गतिविधि के रूप में ही देखते रहे। इसलिए जब स्टर्लिंग शेष खत्म हो गया, तब वित्त मंत्रालय ने विदेशी मुद्रा की उपलब्धता के अनुरूप आयातों को सीमित करने के लिए नौकरशाही का रुख किया। यह विदेशी मुद्रा की बजटिंग के जरिए किया गया और वित्त मंत्रालय ने हर मंत्रालय और आयात-निर्यात मुख्य नियंत्रक को एक निर्धारित अवधि के लिए जरूरी विदेशी मुद्रा के अनुमान प्रस्तुत करने और फिर उन अनुमानों को संभावित निर्यात आय तथा विदेशों से एकतरफा अंतरण से मिलाने के लिए कम करने को कहा।

5 इस आलेख में जहां भी स्रोत का उल्लेख नहीं है, पाठकगण इसके लिए Pangariya 2008 op.cit. का संदर्भ ले सकते हैं।

विदेशी बजटिंग लागू होने के बाद आयात लाइसेंसिंग व्यवस्था को सख्त बनाया गया। स्थापित आयातक लाइसेंसों को धीरे-धीरे खत्म करने के साथ उपभोक्ता वस्तुओं के आयातों में तेजी से कमी आई। लेकिन 1960 के दशक के मध्य और उत्तरार्ध में तमाम आयातों को कवर करने के लिए सख्त आयात लाइसेंसिंग व्यवस्था लागू कर दी गई। सरकार हर छह महीने में आयात नीति जारी करने लगी और उन उत्पादों की सूची जारी करने लगी, जिन्हें आयात किया जा सकता है। इस नीति में बताया गया कि किसी उत्पाद विशेष को कौन आयात कर सकता है और बताई गई जरूरत का कितना हिस्सा आयात किया जा सकता है। इसमें उस उत्पाद की अनिवार्यता और घरेलू अनुपलब्धता को प्रमाणित करने वाली प्रायोजक एजेंसी का भी नाम दिया गया। अनिवार्यता की कोई भी परिभाषा विवेकाधीन और नौकरशाही के विशेषाधिकार के अध्यधीन थी। घरेलू अनुपलब्धता साबित करना भी बड़ी चुनौती था, क्योंकि सुदूर स्थित किसी वैकल्पिक उत्पाद की उपलब्धता के आधार पर भी आयात लाइसेंस देने से इनकार किया जा सकता था।

एक मॉडल, जिसे नाकाम ही होना था

आखिरकार, आत्म-निर्भरता का लक्ष्य, जिसके लिए उत्पादन संरचना का तीव्र विविधीकरण जरूरी था, विकास दर और भारतीय नीत निर्माताओं की गरीबी उन्मूलन की महत्त्वाकांक्षाओं के लिए घातक सिद्ध हुआ।[6]

तेजी से आत्म-निर्भरता हासिल करने और उत्पादक क्षमता हासिल करने के बीच एक अंतर्निहित विरोधाभास है। यह समझना मुश्किल है कि नीति निर्माता 1950 के दशक में ही नहीं, बल्कि आगामी दो-तीन दशकों तक इस विरोधाभास को देख ही नहीं पाए।

1950 के दशक में, आय का स्तर और बचत दर, दोनों ही कम थे। ये दोनों तथ्य कुल बचत को अत्यल्प करने वाले थे। भरपूर संख्या में श्रम आपूर्ति की उपलब्धता के साथ बचत को सबसे उत्पादक संभावित निवेश में लगाना तीव्र वृद्धि का उपाय था। केवल आर्थिक तर्क ही नहीं, बल्कि सामान्य बोध भी यही कहता है कि शुरुआती दशकों में बचत का निवेश श्रम गहन उत्पादों में करना चाहिए, ताकि वे इष्टतम स्केल पर पहुंच

6 नेहरू, जवाहरलाल, 1946, भारत एक खोज, नई दिल्लीः पेंगुइन बुक्स इंडिया, 2004 संस्करण, पीपी. 437-8. जैसा कि लेखक ने लिखा है, भारतीय योजनाकारों का लक्ष्य शुरू से ही लोगों की गरीबी को दूर करना था। तीव्र वृद्धि को इस दिशा में एक माध्यम बनना था।

सकें और विदेशी उत्पादों की तुलना में प्रतिस्पर्धी स्थिति में हों। इससे उन्हें सर्वसाधारण के लिए रोजगार के अवसर सृजित करने और निर्यात राजस्व हासिल करने में भी मदद मिलती, जिसे बाद में उच्च गुणवत्ता वाले कंपोनेंट, मशीनरी और अन्य पूंजी गहन आयातों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था। आय बढ़ने के साथ बचत भी बढ़ती। इससे और अधिक निवेश के साथ-साथ और अधिक पूंजी-गहन उत्पादों का रास्ता खुलता। इस प्रकार, समय के साथ विविधीकरण का लक्ष्य हासिल किया जा सकता था। साथ ही कार्यबल के लिए रोजगार के अवसरों का सृजन भी किया जा सकता था। दक्षिण कोरिया और ताइवान जैसे देशों ने यही रणनीति अपनाई थी।

किन्तु, आत्म-निर्भरता की तात्कालिकता के लिए अर्थव्यवस्था का साइकिलों से लेकर स्कूटर, ऑटोमोबाइल, रेलवे, हवाईजहाज, उनके पुर्जों, जैसे विविध उत्पादों के उत्पादन के लिए जरूरी धातुओं और मशीनों में तीव्र विस्तार किया जाना जरूरी था। 1950 में अपनी अत्यल्प बचत के साथ भारत यह विविधीकरण कैसे हासिल करता? योजनाकारों ने कारण दिया कि निवेश के लिए बचत के आवंटन की दृष्टि से औद्योगिक उत्पाद दो श्रेणियों में आते हैं: स्टील, ऑटोमोबाइल, रेलवे, धातुएं और मशीनरी जैसे पूंजी-गहन उत्पाद, जिनका उत्पादन केवल बड़े उद्यम ही कर सकते हैं। दूसरे, अपैरल, जूते-चप्पल, फर्नीचर और अन्य हल्के विनिर्माणों जैसे श्रम-गहन उत्पाद, जिनका उत्पादन छोटे उद्यमों द्वारा किया जा सकता है, जिन्हें कुटीर उद्योग नाम दिया गया था। यह व्यावहारिक था कि पहले से ही कम बचत को केवल प्रथम श्रेणी के उत्पादों के लिए निवेश किया जाए और कुटीर उद्योग अपने आंतरिक, घरेलू बचत स्रोतों से द्वितीय श्रेणी के उत्पादों का उत्पादन करे।

लेकिन उत्पादक क्षमता का अंतिम परिणाम इसी आवंटन में निहित हो गया। दुर्लभ बचत को केवल पूंजी-गहन श्रेणी में ही यथासंभव अधिकतम उत्पादों में आवंटित करने की अनिवार्यता का मतलब था कि उनमें से प्रत्येक उत्पाद के लिए इतना आवंटन किया जाए कि वे तकनीकी रूप से न्यूनतम व्यवहार्य स्तर पर परिचालन करने में सक्षम हों। यह स्तर विश्व के अन्य हिस्सों में परिचालित हो रहे उद्यमों की तुलना में उल्लेखनीय रूप से छोटा था। यह

तथ्य भारतीय उद्यमों को उनके वैश्विक समकक्षों की तुलना में अनिवार्य रूप से अप्रतिस्पर्धी बनाने वाला है। इसलिए, उन्हें बचाए रखने के लिए आयातों पर रोक जरूरी थी। इसीलिए सख्त लाइसेंसिंग व्यवस्था अपनाई गई।

श्रम-गहन उत्पादों में बचत का हिस्सा निवेश न होने और उच्च गुणवत्ता वाली आयातित सामग्री न मिलने से श्रम-गहन उत्पाद बेहतर न हो सके। उनका उत्पादन भी ऐसे उद्यमों में ही होता रहा, जो उनके वैश्विक समतुल्यों की तुलना में छोटे थे। वे अपनी निर्यात क्षमता भी हासिल न कर पाए और सख्त आयात लाइसेंसिंग व्यवस्था के चलते सस्ते उच्च गुणवत्ता वाले आयातों से भी महरूम रहे। वस्तुतः 1960 के मध्य में उन उत्पादों, अधिकांशतः उपभोक्ता वस्तुओं के आयात प्रतिबंधित हो गए।

बाजार, पूंजी और श्रम-गहन क्षेत्रों तथा पूंजी-गहन विभिन्न उत्पादों में दुर्लभ बचत के इस आवंटन से उत्पादन नहीं कर पाए। बल्कि, सरकार को यह सुनिश्चित करने के लिए कई उपाय करने पड़े कि ये आवंटन केवल स्टील, ऑटोमोबाइल और मशीनरी जैसे उन्हीं उत्पादों के लिए हों, जो कुटीर उद्योग में छोटे स्तर पर उत्पादित नहीं किए जा सकते हैं। स्टील, रेलवे और विद्त उत्पादन उपकरण जैसे भारी उद्योगों ने राजस्व स्रोतों पर निर्भरता के साथ सीधे उत्पादन गतिविधि शुरू कर दी। यह कदम नेहरू के समाजवादी ढांचे के सपने को साकार करने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर उठाया गया, जिसमें उत्पादन गतिविधि में राज्य को प्रगतिशील रूप से अपना हिस्सा बढ़ाना था।

निजी क्षेत्र के लिए सरकार ने यह अनिवार्य कर दिया कि भूमि, भवन और मशीनरी जैसी अचल आस्तियों में ₹1 मिलियन या इससे अधिक का निवेश (यह सीमा 1964 में बढ़ाकर ₹2.5 मिलियन, 1969 में ₹10 मिलियन और 1978 में ₹30 मिलियन कर दी गई) करने वाले किसी भी उद्यम को निर्धारित सरकारी एजेंसी से निवेश लाइसेंस लेना आवश्यक होगा।[7] लाइसेंस में उत्पादित किए जाने वाले उत्पाद और उसकी मात्रा को विनिर्दिष्ट करना आवश्यक रहा।

श्रम-गहन उत्पादों के उत्पादकों को दुर्लभ बचत से दूर रखने के लिए सरकार ने शुरुआत में उन उत्पादों के लिए निवेश लाइसेंस जारी न

7 पनगड़िया 2008, ऑक्सफॉर्ड प्रेस न्यूयॉर्क सिटी, अध्याय 2, फुटनोट 21; अध्याय 3, पेज 63 और अध्याय 4, पेज 81.

करने की नीति अपनाई। लेकिन 1967 की शुरुआत में, सरकार छोटे पैमाने की औद्योगिक इकाइयां (लघु उद्योग) आरक्षण नीति लेकर आई। इसके अंतर्गत, सरकार ने श्रम-गहन उत्पादों की एक सूची बनाई, जिन्हें औपचारिक रूप से केवल लघु उद्योगों द्वारा ही विनिर्माण के लिए आरक्षित कर दिया गया। लघु उद्योगों में वे उद्योग शामिल किए गए जिनमें संयंत्र और मशीनरी में ₹0.75 मिलियन तक का निवेश (बाद में इस सीमा को बढ़ाकर ₹1 मिलियन कर दिया गया और 1980 में से बढ़ाकर ₹2 मिलियन कर दिया गया।)[8] किया गया हो।8 इस सूची में शुरुआत में 47 वस्तुएं थीं, जिन्हें फरवरी 1974 तक तेजी से बढ़ाते हुए 177 कर दिया गया और अप्रैल 1978 में 504 कर दी गईं।[9]

इससे कई दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम सामने आए:

i. दुर्लभ बचत के आवंटन के नियम को अपनाने से अर्थव्यवस्था की दोहरी संरचना ने आकार लिया। आने वाली लगभग पूरी पूंजी को पूंजी-गहन, औपचारिक क्षेत्र में केंद्रित कर दिया गया। इसके समानान्तर, कृषि के अतिरिक्त लगभग पूरा कार्यबल श्रम-गहन, कुटीर उद्योग, अनौपचारिक क्षेत्र में केंद्रित हो गया।

ii. इस व्यवस्था से तीन मोर्चों पर अक्षमता उभरी। पहला, उत्पादन उससे भी कम रहा, जो प्रति इकाई उत्पादन लागत को कम करने के लिए जरूरी था। दूसरा, आयातों को सख्त लाइसेंसिग के जरिए नियंत्रित किया गया और घरेलू उत्पादन को लाइसेंसिंग के जरिए सीमित किया गया। इससे प्रतिस्पर्धा के सभी स्रोत खत्म हो गए। तीसरा, जब तक कोई सामग्री घरेलू स्तर पर उपलब्ध है, भले ही उसकी गुणवत्ता कितनी भी कम हो, उसके आयात की अनुमति नहीं थी। इसका मतलब हुआ कि घरेलू उत्पादों की गुणवत्ता वही हो सकती थी, जो उस उत्पाद को बनाने के लिए घरेलू स्तर पर उपलब्ध सामग्री की गुणवत्ता रही हो।

iii. इन कारकों के चलते उच्च लागत के बावजूद, आयातों पर प्रतिबंधों और निवेश लाइसेंसों के जरिए निर्धारित किए गए सीमित घरेलू उत्पादन के मद्देनजर, स्कूटर, ऑटोमोबाइल, स्टील और सीमेंट जैसे उत्पादों

8 पनगड़िया 2008, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पेज 81
9 पनगड़िया 2008, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पेज 64-65

में अतिरिक्त लाभ की संभावना थी। यह समाजवादी विचारधारा के लिए अभिशाप जैसा था। इसलिए मूल्य नियंत्रण व्यवस्था लागू करनी पड़ी। इससे वितरण नियंत्रित करने के लिए जरूरी उत्पादों की कमी पड़ गई। फिर परमिट व्यवस्था शुरू की गई, जिसमें उत्पादों के संभावित खरीदार को पहले निर्धारित सरकारी एजेंसी से परमिट लेना आवश्यक था। प्रतीक्षा में लंबी कतारें लगने लगीं। लोगों को कभी-कभी महीनों ही नहीं, सालों-साल इंतजार करना पड़ता था। जो इंतजार नहीं करना चाहते थे, वे ऊंची कीमतों पर कालाबाजारी के जरिए खरीदने लगे और अभियोजन का जोखिम भी बना रहता था।

मैक्रो स्तर पर, इन अक्षमताओं से वृद्धि पर बुरा असर पड़ा, विशेष रूप से औद्योगिक क्षेत्र में वृद्धि पर। 1951-52 से 1964-65 के दौरान, जब व्यापार व्यवस्था कुछ उदार थी और नौकरशाही लाइसेंसिंग आवेदनों की सीमित संख्या के चलते, उन पर तेजी से निर्णय लेने में सक्षम थी, उद्योग जगत ने 6.6% की सालाना वृद्धि **(तालिका 1)** दर्ज की। लेकिन तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्थाओं के मानकों के लिहाज से यह वृद्धि दर भी कम ही थी और 1965-66 से 1980-81 के बीच की अवधि के दौरान यह गिरकर 4.1% रह गई। इसके समानान्तर, जीडीपी वृद्धि दर पहली अवधि में

तालिका 1 : **कृषि, उद्योग और सेवा क्षेत्र में वृद्धि दर 1951-52 से 2019-20 तक**

अवधि	कृषि	उद्योग	सेवा	एफसी पर जीडीपी
1951-65	2.9	6.6	4.9	4.1
1965-81	2.1	4.1	4.2	3.3
1981-88	2.0	6.2	6.0	4.7
1988-91	6.9	8.1	7.2	7.3
1991-92	-2.0	-0.2	4.3	1.5
1992-2003	2.7	6.1	7.4	5.9
2003-20	3.9	7.2	8.5	7.4

स्रोतः लेखक की गणना केंद्रीय सांख्यिकी कार्यालय, सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय, भारत सरकार के जीडीपी डेटा पर आधारित है

तालिका 2 : **स्थिर बाजार मूल्यों पर वृद्धि दर 1951-52 से 2019-20 तक**

अवधि	जनसंख्या	स्थिर बाजार मूल्य पर जीडीपी
1951-65	2.0	4.3
1965-81	2.3	3.2
1981-88	2.1	4.9
1988-91	2.1	7.0
1991-92	2.0	1.1
1992-2003	1.9	5.8
2003-20	1.3	7.4

स्रोतः लेखक की गणना केंद्रीय सांख्यिकी कार्यालय, सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय, भारत सरकार के जीडीपी डेटा पर आधारित है

4.3% और दूसरी अवधि में 3.2% रह गई। परिणामतः अर्थव्यवस्था न्यून-वृद्धि चक्र में फंस गई।

इन दशकों के दौरान देखी गई वृद्धि दर का आखिरी त्रासद पहलू अकुशल लोगों के लिए भी अच्छे वेतन वाले रोजगारों के सृजन कर पाने में अर्थव्यवस्था का नाकाम रहना था। अधिकांश बचत का हिस्सा औपचारिक क्षेत्र को चला जाता था और इस क्षेत्र में भी अकुशल कार्यबल के लिए बचत के निवेश की तुलना में प्रति इकाई सीमित संख्या में ही रोजगारों का सृजन हुआ। चूंकि वृद्धि दर न्यून थी, इसलिए आय और बचत धीरे-धीरे ही बढ़ी। इस क्षेत्र के विस्तार के बावजूद रोजगार सृजन का स्कोप भी सीमित ही रहा।

श्रम-गहन अनौपचारिक क्षेत्र में भी अच्छे वेतन वाले रोजगारों के सृजन में इसी प्रकार की सीमित क्षमता देखने को मिली। हालांकि अच्छे वेतन वाले रोजगारों के सृजन के लिए प्रति कामगार न्यूनतम पूंजी अपेक्षा बहुत कम थी। इसके अतिरिक्त, वैश्विक अर्थव्यवस्था में अप्रतिस्पर्धी रहते हुए इसका विस्तार घरेलू मांग से बाधित हुआ। और इधर, घरेलू मांग में विस्तार आय में वृद्धि की दर से बाधित रही, जो न्यून ही बनी रही।

अकुशल कार्यबल के लिए अच्छे वेतन वाले रोजगारों में धीमी वृद्धि का मतलब था कि अर्थव्यवस्था कृषि में लगे कामगारों को उद्योग और सेवा

क्षेत्र में आने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन देने में नाकाम रही। परिणामस्वरूप, प्राथमिक रूप से ग्रामीण और कृषि आधारित अर्थव्यवस्था का औद्योगिक शहरी अर्थव्यवस्था में तब्दीली का सपना, सपना ही रहा। 1987-88 तक भारत का 66% कार्यबल खेती-बाड़ी में ही पसीना बहा रहा था। और इनमें से अधिकांश ऐसी आय पर काम कर रहे थे जिसमें बमुश्किल ही गुजारा हो सके या गुजारा हो ही न सके।

बाद में, उदारीकरण से आधुनिक सेवाओं में मिली कुछ सफलता के बाद आत्म-निर्भरता आधारित नीतिगत ढांचे का विस्तार सेवाओं तक किया गया। कुशल श्रम सूचना प्रौद्योगिकी और वित्त जैसे औपचारिक सेवा क्षेत्रों में केंद्रित हो गया। जबकि, अकुशल कामगारों ने परिवहन, पर्यटन और घरेलू नौकर जैसे अनौपचारिक सेवा क्षेत्रों का रुख किया। भारत आज भी अर्थव्यवस्था के इस द्वैत में जकड़ा हुआ है और ग्रामीण-शहरी प्रवास न्यून बना हुआ है।

दुविधापूर्ण उदारीकरणः 1980 के दशक का संक्रांति काल

1970 के दशक के उत्तरार्ध के दौरान तीन घटनाएं घटीं, जिनसे आयात उदारीकरण की राह थोड़ी ही सही, किन्तु आसान हुई। पहली, आयात लाइसेंसिग व्यवस्था के साथ बढ़ा हुआ औद्योगिकीकरण भी सीमित होने लगा। उद्योगपति ऐसी स्थिति में पहुंच गए कि अपनी उत्पादन इकाइयों की क्षमताओं का पूर्ण उपयोग करने में अक्षम हो गए। क्योंकि उत्पादन के लिए आयातित सामग्री तक पहुंच सीमित हो गई। इसलिए वे आयात लाइसेंसिंग व्यवस्था के उदारीकरण की मांग के साथ एकजुट होने लगे।

दूसरी, पेट्रोलियम निर्यातक देशों के संगठन ने मिलकर कच्चे तेल में बाजार की गुटबंदी कर ली। इससे 1973 में तेल की कीमतों में भारी वृद्धि हुई। बड़ा निर्यात राजस्व इस संगठन के सदस्य देशों के पास ही रहा। इसी राजस्व की बदौलत मध्य पूर्व में भारत से कामगारों की मांग उल्लेखनीय रूप से बढ़ी। भारत से बड़ी संख्या में लोग मध्य पूर्व चले गए। परिणामस्वरूप भारत में रेमिटैंस बढ़ गया और विदेशी मुद्रा के अभाव की स्थिति से कुछ हद तक राहत मिली।

और तीसरी घटना रही, केंद्र सरकार के कुछ वरिष्ठ नौकरशाहों को इस बात का एहसास हो जाना कि प्रभुत्व और नियंत्रणकारी व्यवस्था के दिन अब लद चुके हैं और अब कुछ नए उपाय करने होंगे। लेकिन सियासी गलियारों में कोई यह मानने को ही तैयार नहीं था कि यह नियंत्रणकारी व्यवस्था आधारभूत रूप से ही गड़बड़ थी। इसलिए, धीरे-धीरे केवल छोटे और ऐसे परिवर्तन ही किए जाने शुरू किए गए, जो तत्कालीन मौजूदा नीतिगत ढांचे के दायरे में रहकर बिना किसी शोरगुल के किए जा सकते थे। इसलिए यह उदारीकरण ऐसे हुआ, जैसे किसी रडार से बचकर निकलते हुए किया गया हो।

फिर 1976 में खुली सामान्य लाइसेंसिंग (ओपन जनरल लाइसेंसिंग-ओजीएल) के आविर्भाव के साथ व्यापार उदारीकरण का दौर शुरू हुआ। इसके तहत ऐसे उत्पादों की सूची बनाई गई, जिनके लिए अब

आयात लाइसेंस की जरूरत नहीं थी। इस एक सुधार से उन सूचीबद्ध वस्तुओं के आयातक इस बंधन से मुक्त हो गए कि यदि वह वस्तु घरेलू स्तर पर उपलब्ध है, तो उसका आयात नहीं किया जा सकता। हालांकि इसमें वास्तविक उपयोक्ता की स्थिति और विदेशी मुद्रा की जरूरत जैसी अपेक्षाएं जोड़ दी गईं। तथापि, यह व्यवस्था का उदारीकरण तो था। 1978-79 में, पी.सी. अलेक्ज़ेंडर कमेटी रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने उन सभी उत्पादों को ओजीएल सूची में डाल दिया, जो घरेलू स्तर पर उपलब्ध नहीं थे। सरकार ने छमाही आधार पर छपने वाली लाल किताब का प्रकाशन भी बंद कर दिया, जिसमें अनुमत आयातों और आयात शर्तों की सूची दी जाती थी। इसके स्थान पर, सरकार ने ऐसी सूची बनाई, जिसमें प्रतिबंधित किए गए सभी आयातों का वर्गीकरण किया गया था। इसमें दूसरी श्रेणी में ऐसे उत्पाद शामिल किए गए, जिनके लिए लाइसेंस जरूरी था। ओजीएल आयातों के लिए किसी लाइसेंस या घरेलू उपलब्धतता जैसी शर्त नहीं रखी गई थी।

1980 के दशक के दौरान आयात उदारीकरण चार माध्यमों से हुआ। पहला, कैनलाइज्ड आयातों में गिरावट। ये ऐसे आयात थे, जिन पर सरकार का एकाधिकार था। 1980-81 के 67% से गिरकर 1986-87 में ये मात्र 27% रह गए। इस गिरावट से विदेशी मुद्रा बची और उसका उपयोग नॉन-कैनलाइज्ड आयातों में किया गया। बॉम्बे हाई में तेल की खोज के बाद कच्चे तेल के घरेलू उत्पादन का आयातों में इस गिरावट में अहम योगदान रहा। इसके अलावा, हरित क्रांति के बाद खाद्यान्नों के आयात में भी कमी आई और कई कैनवाइज्ड आयातों की कीमतों में भी बड़ी गिरावट आई।

दूसरा, सरकार ने ओजीएल सूची में वस्तुओं की संख्या तेजी से बढ़ाई। 1976 में जब यह सूची लाई गई थी, तब इसमें केवल 76 पूंजीगत वस्तुएं थीं। अप्रैल 1987 में यह संख्या बढ़ाकर 1007 और अप्रैल 1990 में 1329 की जा चुकी थी। इसके साथ, इस सूची में विभिन्न मध्यवर्ती चीजों को भी शामिल कर लिया गया था। अप्रैल 1987 में इनकी संख्या 620 थी, जो अप्रैल 1988 में बढ़ाकर 949 कर दी गई थी। नॉन-कैनलाइज्ड आयातों में ओजीएल आयातों का हिस्सा 1980-81 के 5% से बढ़कर

1987-88 में 30% हो गया। ज्यादातर मामलों में, सरकार ने इन वस्तुओं को ओजीएल सूची में शामिल करते समय इन पर टैरिफ भी घटा दी थी।

तीसरा, कई निर्यात प्रोत्साहन शुरू किए गए या उस समय मौजूद प्रोत्साहनों का दायरा बढ़ाकर उनका विस्तार किया गया। इससे उन आयातों का सीधा विस्तार करने में मदद मिली, जो निर्यातों से जुड़े थे और अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी मुद्रा अवरोध भी कम हुए। विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण थे, निर्यातकों को दिए गए पुनः प्राप्ति (आरईपी) लाइसेंस और बाजार में मुक्त रूप से इनकी खरीद-फरोख्त की जा सकती थी। निर्यातकों को आरईपी लाइसेंस उनकी आयात जरूरतों के लगभग दोगुने दामों में दिया जाता था। इस लाइसेंस के जरिए निर्यातक उन वस्तुओं का आयात भी कर सकते थे, जो ओजीएल सूची में नहीं थीं।

चौथा, और संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण था, भारतीय रिज़र्व बैंक का 1980 के दशक के उत्तरार्ध में रुपये में उल्लेखनीय रूप से गिरावट आने देना यानी रुपये का अवमूल्यन होने देना। 1987-88 में रुपये का मूल्य एक डॉलर के मुकाबले ₹13 था, जो 1990-91 में घटकर ₹17.9 हो गया। रुपये में इस गिरावट से निर्यातों के प्रदर्शन में सुधार आया और आयातों के लिए विदेशी मुद्रा उवरोध कुछ और कम हुए।

उल्लेखनीय है कि इन उदारवादी घटनाओं के साथ-साथ नॉन-ओजीएल वस्तुओं पर टैरिफ विशेष रूप से 1984-85 के बाद नाटकीय रूप से बढ़ते गए। इस बढ़ोत्तरी का एक संकेतक यह है कि आयातों के प्रतिशत के रूप में टैरिफ राजस्व 1977-78 के 27% से बढ़कर 1987-88 में 62% हो गया। यह समझना भी महत्त्वपूर्ण है कि टैरिफ बढ़ाने का उद्देश्य बड़े कोटा रेन्ट को हटाना था, जो संरक्षण देने के बजाय बोझ बना हुआ था। कुछ लोगों ने इस तथ्य को नजरअंदाज किया और तर्क दिया कि 1980 के दशक को इस रूप में वर्गीकृत किया जाएगा कि इस दौरान संरक्षण कम होने के बजाय बढ़ा है।

1980 के दशक में निवेश लाइसेंसिंग का भी मामूली उदारीकरण देखने को मिला, जिसकी बात मैं यहां विस्तार से नहीं करूंगा। इसके साथ आयात उदारीकरण से हुए परिवर्तन का असर वृद्धि दर पर दिखाई

दिया। 1965-66 में जो वार्षिक औद्योगिक वृद्धि 4.1% रह गई थी, वह 1980-81 से 1987-88 के बीच 6.2% हो गई और उसके बाद 1988-89 से 1990-91 के दौरान 8.1% तक हो गई **(तालिका 1)**। औद्योगिक वृद्धि में हुई बढ़ोत्तरी के साथ जीडीपी भी बढ़ा। जो जीडीपी 1965-66 से 1980-81 के दौरान 3.2% और 1981-82 से 1987-88 के दौरान मामूली बढ़ोत्तरी के साथ 4.9% था, वह 1988-89 से 1990-91 के दौरान बढ़कर 7% हो गया **(तालिका 2)**।

1980 के दशक के अंतिम तीन वर्षों में वृद्धि दर में बढ़ोत्तरी से राजस्व घाटा बढ़ गया। इस दशक के उत्तरार्ध में यह घाटा बढ़कर अप्रत्याशित स्तर पर पहुंच गया। क्योंकि उन परियोजनाओं को विदेशों से विदेशी मुद्रा ऋण लेकर आंशिक वित्तपोषण दिया जा रहा था। 1989-90 तक, थोड़े उदारीकरण के बावजूद देश में व्यापार के द्वार अपेक्षाकृत रूप से खुले नहीं थे और निर्यात आय सीमित थी। निर्यातों से होने वाली आय का 27% तो विदेशी मुद्रा ऋण के मूलधन और ब्याज की चुकौती में ही चला जाता था। उधर, आर्थिक विस्तार के चलते बढ़ती आयात आवश्यकताओं को देखते हुए ये हालात बिगड़ने ही थे और 1991 में भारत को चुकौती न कर पाने के संकट का सामना करना पड़ा।

सुनियोजित आरंभ और उड़ानः 1990 का दशक और उससे आगे

1991 के भुगतान संतुलन संकट के समय आम चुनाव सिर पर थे। यही वह मौका था, जब भारत को पहली बार नेहरू-गांधी परिवार से इतर कोई प्रधानमंत्री मिला था और वह भी दक्षिण भारत से, पी.वी. नरसिम्हा राव। इस संकट को अवसर में बदलते हुए राव ने नीतिगत ढांचे में बदलाव किए। कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो उन्होंने आयात और निवेश लाइसेंसिंग को एकाएक खत्म कर दिया। आयात लाइसेंसिंग में यह अपवाद उपभोक्ता वस्तुओं का रहा, जिसका हिस्सा समस्त टैरिफ लाइन्स का 30% है। वहीं, निवेश लाइसेंसिंग के मामले में केवल 18 परिभाषित उत्पाद ही रखे गए। इसके साथ ही, 1991 में जुलाई में पेश किए गए बजट में शीर्ष औद्योगिक उत्पादों पर टैरिफ दर 355% से घटाकर 150% कर दी गई और रुपया ₹21.2 प्रति डॉलर से गिरकर ₹25.8 प्रति डॉलर के स्तर पर पहुंच गया। सरकार ने अर्थव्यवस्था को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) के लिए खोलने की नीति बनाई।

बाद के वर्षों में राव ने केवल पांच उत्पादों को छोड़कर शेष सबके लिए निवेश लाइसेंसिंग को खत्म कर दिया। इन पांच उत्पादों के लिए निवेश लाइसेंसिंग को स्वास्थ्य, सुरक्षा और पर्यावरण के आधार पर न्यायोचित ठहराया गया। उसके बाद टैरिफ भी धीरे-धीरे घटते चले गए। 1992-93 में जो टैरिफ 110% होते थे, वे 1993-94 में 85% हो गए, 1994-95 में 65% और 1995-96 में 50% रह गए। जब 1996 में राव सरकार से गए तो वह औद्योगिक टैरिफ को 355% से घटाकर 50% कर चुके थे। हालांकि 1996-97 में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, लेकिन 1997-98 में ये थोड़े और गिरकर 40% रह गए।

शीर्ष दर में अगली गिरावट 2000-01 में आई, जब यह गिरकर 35% रह गई। इसके बाद 2007-08 तक इस दर में तेजी से गिरावट दर्ज की गई। 2002-03 में यह दर गिरकर 30% हुई, 2003-04 में 25%, 2004-05 में 20%, 2005-06 में 15%, 2006-07 में 12.5% और 2007-08 में 10%

रह गई। 2007-08 के बाद शीर्ष दरों में कोई गिरावट नहीं आई। तथापि, टैरिफ ढांचे की नीति को युक्तिसंगत बनाए रखने के क्रम में विशिष्ट उत्पादों पर दरों का कम किया जाना जारी रखा गया।[10]

इस बीच, अप्रैल 2001 में उपभोक्ता वस्तुओं पर भी आयात लाइसेंसिंग खत्म कर दी गई। इसे भी तब खत्म किया गया जब विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) में भारत द्वारा आयात लाइसेंसिंग को यूएस द्वारा सफलतापूर्वक चुनौती दी गई।

भारत के विदेशोन्मुख विकास में भारत की महत्त्वाकांक्षा में 2002-03 तक विनिमय दर ने बड़ी सहायक भूमिका अदा की। प्रतिदिन औसतन रुपया-डॉलर विनिमय दर 1991-92 के ₹24.5 प्रति डॉलर से 2002-03 में ₹48.4 प्रति डॉलर हो गई। रुपये के इस अवमूल्यन से आयात-प्रतिस्पर्धी उत्पादों को गिरती टैरिफ दरों के एवज में अस्थायी रूप से एक सहारा मिल गया और निर्यात भी प्रगतिशील रूप से लाभदायक हो गए। थोड़ा आगे बढ़ें और देखें तो पता चलता है कि 2002-03 तक न्यून टैरिफ दरों और अवमूल्यित रुपये से बने संयुक्त परिवेश ने भारत के निर्यातों को उड़ान देने के लिए रनवे तैयार कर दिया था। हालांकि आगामी नौ-दस वर्षों तक रुपया या तो स्थिर रहा या डॉलर के मुकाबले इसमें मामूली मजबूती आई, किन्तु 2002-03 तक यह पर्याप्त रूप से अवमूल्यित हो चुका था। इसलिए आगामी वर्षों में इसके अवमूल्यित न होने से निर्यातों को विस्तार देने में बाधा नहीं आई।

2006-07 तक भारत तकरीबन आत्मनिर्भर से अत्यधिक खुली अर्थव्यवस्था में तब्दील हो चुका था। आयात लाइसेंसिंग पूरी तरह खत्म कर दी गई थी। औद्योगिक टैरिफ दरें औसतन 11.9% रहीं (तालिका 3)। ऐसी टैरिफ दरें तो 15% से अधिक थीं, उनका अनुपात 93.9% से गिरकर 2001-02 में केवल 13.8% रह गया था। राव द्वारा अर्थव्यवस्था को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) के लिए खोलने की शुरू की गई प्रक्रिया को उनके बाद की सरकारों ने भी जारी रखा और अर्थव्यवस्था विदेशी निवेशकों के लिए भी अत्यधिक खुली अर्थव्यवस्था बन गई।

10 वार्षिक टैरिफ कटौती वित्त मंत्रियों के बजट भाषण से संकलित की गई है।

तालिका 3: **औद्योगिक उत्पादों में संरक्षण के संकेतक, 1990-91 से 2020-21 तक**

वर्ष	अधिकतम टैरिफ दर	औद्योगिक टैरिफ का सामान्य औसत*	15% से अधिक दरों सहित प्रतिशत टैरिफ लाइन्स
1990-91	355	126	उपलब्ध नहीं
1993-94	85	73	उपलब्ध नहीं
1995-96	50	42	उपलब्ध नहीं
1997-98	45	35.6	96.6
2001-02	35	30.8	93.9
2006-07	12.5	11.9	13.8
2010-11	10	8.9	11.9
2014-15	10	9.5	13.6
2019-20	10	10.8	24
2020-21	10	11.1	25.4

*1990-91, 1993-94 और 1995-96 वर्षों के लिए, ये दरें केवल विनिर्माण से संबंधित हैं, खनन इसमें शामिल नहीं है।

स्रोतः व्यापार नीति समीक्षाः भारत 1998, 2002, 2007, 2011, 2015 और 2020, विश्व व्यापार संगठन।

इन सुधारों का प्रभाव अर्थव्यवस्था के बड़े पैमाने पर बेहतर हुए प्रदर्शन पर स्पष्ट रूप से दिखाई दिया। संकट वाले वर्ष जीडीपी वृद्धि 1.1% तक गिर चुकी थी, लेकिन सुधारों की बदौलत अर्थव्यवस्था ने अपनी खोयी हुई रफ्तार पकड़ी और 1992-93 से 2002-03 के बीच 5.8% की वृद्धि दर हासिल की, जो 1981-82 से 1987-88 के दौरान 4.9% थी। इसके बाद, प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के कार्यकाल में इन सुधारों का असर पड़ना शुरू हो गया, और फिर औसतन वार्षिक वृद्धि दर 2003-04 से 2019-20 के दौरान बढ़कर 7.4% रही **(तालिका 2)**। सत्रह वर्षों की इस अंतिम अवधि के दौरान, औद्योगिक वृद्धि भी पूर्ववर्ती अवधि की 6.1% की तुलना में बढ़कर 7.2% हो गई **(तालिका 1)**।

वृद्धि दर में हुए इस परिवर्तन के केंद्र में व्यापार रहा। चार्ट 1 में 1950-51 से 2019-20 तक जीडीपी के प्रतिशत के रूप में दिखाए गए आयातों

और निर्यातों के आंकड़े इसके गवाह हैं। 1958-59 में निर्यात पहली बार 5% से नीचे के स्तर पर तले गए थे। फिर 1975-76 में जाकर पुनः इस स्तर पर पहुंच पाए और 1989-90 तक भी 7% के आंकड़े को नहीं छू पाए थे। लेकिन 1991 के सुधार शुरू होने के बाद निर्यात वृद्धि ने भी रफ्ताकर पकड़ी। 2003-04 तक जीडीपी के अनुपात में निर्यातों का आंकड़ा 15% से पार हो चुका था और 2013-14 तक यह 25% हो गया। संपूर्णता में बात की जाए तो भारत के वस्तु और सेवा निर्यात 2002-03 के 74.5 बिलियन यूएस डॉलर से बढ़कर 2013-14 में 470.4 बिलियन यूएस डॉलर के हो चुके थे। उल्लेखनीय है कि ऐसे कई साल रहे, जब पूर्ववर्ती वर्षों की तुलना में तीव्रतर वृद्धि दर्ज की गई। दुर्भाग्य से, 2013-14 में जीडीपी की तुलना में निर्यात उच्चतम स्तर पर रहे। 2019-20 तक यह अनुपात गिरकर 18.6% रह गया। यह गिरावट और हाल के वर्षों में निर्यात के हालिया प्रदर्शन चिंता का विषय है।

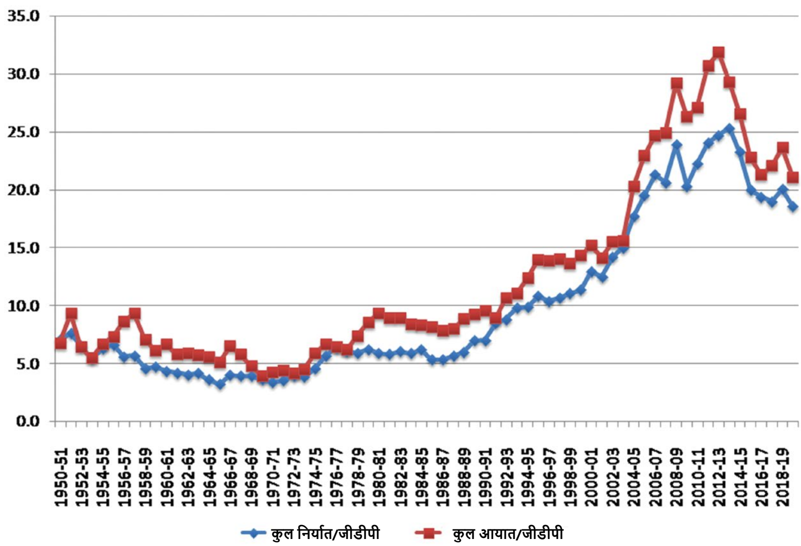

चार्ट 1: जीडीपी के हिस्से के रूप में वस्तुओं और सेवाओं का निर्यात तथा आयात।
स्रोतः आरबीआई की सांख्यिकी पुस्तिका से डेटा का इस्तेमाल करते हुए लेखक की सर्जना।

व्यापार नीति आजः धीरे-धीरे बढ़ता संरक्षणवाद

इसमें तो कोई दोराय नहीं है कि व्यापार खुलने के लाभ प्रत्यक्ष हैं, लेकिन इसके बावजूद भारत ने हाल के वर्षों में उदारवाद की प्रक्रिया को उल्टा करना शुरू कर दिया है। 2011, 2015 और 2020 में प्रकाशित डब्ल्यूटीओ व्यापार नीति समीक्षा रिपोर्टों के जरिए तेजी से बढ़ते संरक्षणवाद को समझा जा सकता है। 2010-11 में टैरिफ का सामान्य औसत 8.9% के न्यूनतम स्तर पर था। उस वर्ष 15% से अधिक की टैरिफ लाइनों का अनुपात भी 11.9% के न्यूनतम स्तर पर था। तब से, टैरिफ का सामान्य औसत 2014-15 में बढ़कर 9.5%, 2019-20 में 10.8% और 2020-21 में 11.1% हो गया। 15% से अधिक की टैरिफ लाइनों का अनुपात भी 2014-15 में 13.6% हुआ और फिर 2019-20 में बढ़कर 24% हो गया। 2020-21 में यह अनुपात 25.4% रहा। 2021-22 के बजट में विभिन्न उत्पादों पर सीमा शुल्क बढ़ाने के साथ ही टैरिफ बढ़ने का यह ट्रेंड जारी रहा।

जब हमें पता चलता है कि टैरिफ चुनिंदा तरीके से वहां लगाए गए हैं, जहां उनका सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ता है, उनका बढ़ना अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

आयात प्रतिस्थापन के उद्देश्य से टैरिफ केवल उन उत्पादों पर बढ़ाए गए, जिनका बड़े पैमाने पर आयात किया जा रहा था और घरेलू उद्योग प्रतिस्पर्धा में नाकाम हो रहा था। जब ऐसे उत्पादों के लिए उच्च संरक्षण प्रदान किया जाता है, जो बड़ी मात्रा में आयात किए जा रहे हों और किसी देश द्वारा बमुश्किल आयात किए जाने वाले उत्पादों को कम संरक्षण प्रदान किया जाता है, तो किसी औसत टैरिफ का प्रभाव इसकी विपरीत स्थिति की तुलना में अधिक गंभीर होता है।

इन टैरिफ वृद्धियों में रही-सही कसर भारत द्वारा एंटी डंपिंग ड्यूटी ने पूरी कर दी। (अथवा भारत द्वारा एंटी डंपिंग (एडी) ड्यूटी इन टैरिफ वृद्धियों की पूरक रहीं।

निर्यातक देशों द्वारा यथा 30 जून, 2020 को प्रभावी एडी ड्यूटी और कीमत अंडरटेकिंग जैसे एडी उपायों के भारत के लिए कुल 243 मामले रहे। दुनियाभर में, सभी डब्ल्यूटीओ सदस्यों में, यथा 30 जून, 2020 को इन उपायों की कुल संख्या 1926 रही। 2019 में विश्व मर्चेंडाइज आयातों

में मात्र 2.53% हिस्से के साथ भारत के एडी उपाय 12.6% रहे। इस मामले में केवल यूएस ही ऐसा देश रहा, जो 398 उपायों के साथ भारत से आगे रहा। इस मामले में भारत के बाद 156 और 11 उपायों के साथ क्रमशः ब्राजील और चीन का स्थान रहा।

उपलब्ध एंटी-डंपिंग डेटा के अनुसार नवीनतम पूर्ण वर्ष के दौरान भारत द्वारा एंटी-डंपिंग का इस्तेमाल विशेष रूप से बढ़ा दिया गया। 1 जुलाई, 2019 से 30 जून, 2020 की एक वर्ष की अवधि के दौरान ही भारत ने 98 एडी मामले प्रवर्तित किए। ये उक्त वर्ष के दौरान किसी भी देश द्वारा प्रवर्तित सबसे अधिक मामले हैं। यूएस और ऑस्ट्रेलिया क्रमशः 71 और 15 मामलों के साथ दूसरे और तीसरे स्थान पर रहे। अन्य सभी डब्ल्यूटीओ सदस्य देशों ने वर्ष के दौरान 15 से कम मामले प्रवर्तित किए।[11]

एडी के संबंध में दो और बिंदु उल्लेखनीय हैं। पहला, ये उपाय उत्पादों के सबसे प्रतिस्पर्धी आपूर्तिकर्ताओं को लक्षित कर किए गए थे और उन पर एडी ड्यूटी काफी बड़ी हो सकती हैं। परिणामस्वरूप, इन शुल्कों का संरक्षणवादी प्रभाव प्रायः उससे भी ज्यादा होता है, जितना टैरिफ को 10 से 15 प्रतिशत बिंदु तक बढ़ाने से होता है।

दूसरा, चीन ऐसा देश है, जो अपने उत्पादों की भारतीय बाजारों में 'डंपिंग' के लिए सुर्खियों में रहता है। बमुश्किल यही एकमात्र देश है, जो व्यापार उपचार महानिदेशालय के कोपभाजन का सर्वाधिक शिकार बनता है। 1 जुलाई, 2019 से 30 जून, 2020 तक भारत द्वारा प्रवर्तित किए गए 98 मामलों में से चीन को 18 मामलों में लक्षित किया गया है। शेष 80 मामले अन्य देशों को लक्षित हैं।

आयात प्रतिस्थापन की राह पर लौटना भविष्य में भारत की वृद्धि के लिए खतरा होगा और इस खतरे पर चर्चा करने से पहले यह उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि कुछ पर्यवेक्षकों ने सुझाया है कि यह नया संरक्षणवाद भारत को 1991 से पहले वाले दौर में ही ले जाएगा। किन्तु यह कोरी अतिशयोक्ति है। आज का परिदृश्य 1991 से पूर्व के भारत से अलग है। तब नीति व्यवस्था का सबसे प्रतिबंधात्मक औजार होता था आयात लाइसेंसिंग, जो आज नहीं है। इसके अलावा, पहले सभी उपभोक्ता वस्तुओं के आयात पर लगभग प्रतिबंध ही था, जो मार्च 2001 तक रहा। आज ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है। 1990-91 में औसत सामान्य औद्योगिक

11 एंटी-डंपिंग उपायों संबंधी आंकड़े और डब्ल्यूटीओ से प्राप्त मामले, एंटी-डंपिंग कार्यप्रणाली समिति – रिपोर्ट (2020) – 28 अक्टूबर, 2020 को अंगीकृत। यह रिपोर्ट इस लिंक से डाउनलोड की जा सकती है, (जिसे 4 फरवरी, 2021 को एक्सिस किया गया था) https://docs.wto.org/dol2fe/Pages/SS/directdoc.aspx?filename=q:/G/L/1366.pdf&Open=True (accessed on February 4, 2021).

टैरिफ 126% थे। वहीं, 2020-21 में ये टैरिफ केवल 11.1% रहे। 15% से अधिक की दर वाले टैरिफ का अनुपात 1997-98 में 96.6% था, जो 2020-21 में 25.1% रहा।

यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि भारत ने एक के बाद एक हर क्षेत्र को तेजी से एफडीआई के लिए खोला है। यहां तक कि 100% प्लस सीमा शुल्कों से संरक्षित ऑटोमोबाइल जैसे क्षेत्र में मुक्त विदेशी निवेश प्रवाह रहता है। सेवाओं में व्यापार का उदारीकरण करने में खुली एफडीआई व्यवस्था की अहम भूमिका रही है। सुधार से पहले के दशकों में, बैंकिंग और बीमा जैसी अधिकांश वाणिज्यिक सेवाएं थी ही नहीं। हालांकि मौजूदा सरकार ने टैरिफ भले ही बढ़ा दिए हों, लेकिन बीमा पर एफडीआई की ऊपरी सीमा को 26% से बढ़ाकर 49% और फिर 74% कर दिया है।

इस सबके बावजूद, धीरे-धीरे बढ़ते आयात प्रतिस्थापन से भारत की वृद्धि दर और रोजगार सृजन को लगने वाले धक्के को कम करके आंकना गलती होगी। आयात प्रतिस्थापन की इस नीति का सबसे हानिकारक प्रभाव श्रम-गहन विनिर्माणों और श्रेष्ठतम सीमित कुशलताओं वाले भारत के बड़े कार्यबल के लिए अच्छे वेतन वाले रोजगारों के विस्तार पर पड़ेगा। जब उद्योगों को संरक्षण की बैसाखी से बढ़ाया जाता है तो वे बमुश्किल ही विश्वस्तरीय हो पाते हैं। भारत के सूचना प्रौद्योगिकी, फार्मासूटिकल्स और पेट्रोलियम रिफाइनिंग जैसे सफलतम उद्योगों को वैश्विक बाजारों से सफलता मिली है। इसके विपरीत, विश्व ऑटोमोबाइल बाजार में भारत के ऑटो उद्योग की हिस्सेदारी 1% भी नहीं हो पाई है, जिसे 70 वर्षों से सरकारी संरक्षण प्राप्त है, जबकि यह उद्योग एफडीआई के लिए भी पूरी तरह खुला है।

आप इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग का उदाहरण लीजिए। भारत ने 2014 की शुरुआत में इस उद्योग के लिए आयात प्रतिस्थापन औद्योगिकीकरण को अपनाया। उसके बाद से छह वर्षों में इस उद्योग का हासिल क्या रहा? 2013-14 में इलेक्ट्रॉनिक्स सामान का आयात 32.4 बिलियन यूएस डॉलर का था और 2018-19 में बढ़कर 55.6 बिलियन यूएस डॉलर का हो गया। हालांकि, इसी अवधि के दौरान निर्यातों में मामूली बढ़ोत्तरी हुई, जो 7.6 बिलियन यूएस डॉलर से बढ़कर 8.9 बिलियन यूएस डॉलर के हो गए। इन वर्षों के दौरान कई मोबाइल फोन असेंबली कंपनियां भी आईं, लेकिन इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग को बढ़ाने में उनका योगदान नगण्य हो

गया। स्थानीय स्वामित्व वाली तकरीबन सभी कंपनियां वैश्विक मानकों के लिहाज से बहुत छोटी हैं और इनमें से किसी के भी निर्यातों का केंद्र बनने की संभावना नहीं है।

यह कामयाबी क्यों नहीं मिली, इसे देखना उतना भी कठिन नहीं है। इस उद्योग की प्रकृति देखिए। हालांकि संरक्षण उन कंपनियों को आकर्षित करता है, जो संरक्षित घरेलू बाजार में अपने उत्पाद बेचकर तुरत-फुरत मुनाफा कमाने की जुगत में रहती हैं। टैरिफ विदेशी आपूर्तिकर्ताओं के लिए बाधा बनते हैं और ऐसी कंपनियां निश्चित और तकरीबन जोखिमरहित घरेलू बाजार का दोहन करने के लिए व्यवसाय करते हैं। चूंकि उनकी वैश्विक महत्त्वाकांक्षाएं नहीं होती हैं, इसलिए वे वैश्विक अर्थव्यवस्था में अपने समतुल्य उद्योगों की तुलना में छोटे स्तर पर ही परिचालन करते रहते हैं।

यदि आयात प्रतिस्थापन से केवल इतना ही नुकसान होना होता तो भी ज़्यादा चिंता की बात नहीं थी। इस नीति का और भी हानिकारक प्रभाव वह है, जो दिखाई नहीं दे रहा है। हमारा अपना आर्थिक इतिहास गवाह रहा है कि किसी विकासशील देश में पूंजी सबसे दुर्लभ संसाधन है। इस नीति का एक अनभिप्रेत नुकसान आयातों के कम होने के साथ-साथ निर्यातों में गिरावट आना भी है। इस तरह से अर्थव्यवस्था विश्व बाजारों में पिछड़ती है। यदि 2019 के लिए डब्ल्यूटीओ के आकलन देखें तो वैश्विक मर्चेंडाइज निर्यातों में भारत का हिस्सा केवल 1.7% रहा, वहीं चीन का हिस्सा 13.2% रहा। भारत को विश्व बाजारों के साथ अपने संपर्क बढ़ाने की जरूरत है, कम करने की नहीं।

खुली व्यापार व्यवस्था बनाए रखने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह देश की कंपनियों को दुनिया की श्रेष्ठतम कंपनियों के सामने बेंचमार्क करती है। खुली अर्थव्यवस्था की प्रतिबद्धता नीति निर्माताओं को यह सोचने पर मजबूर करती है कि घरेलू नीतिगत स्तर पर किस परिवर्तन की जरूरत है, ताकि हमारी कंपनियां दुनिया की अन्य सर्वश्रेष्ठ कंपनियों से मुकाबला कर पाएं। इसके विपरीत, जब कोई देश खुली व्यवस्था की राह को बंद कर लेता है और घरेलू कंपनियों को विदेशी प्रतिस्पर्धियों के प्रभाव से बचाने के लिए आयात संरक्षण की नीति अपनाता है, तो दरअसल, वह अपनी घरेलू कंपनियों की स्पर्धात्मकता बढ़ाने के मूलभूत स्रोत को ही छोड़ देता है।

आगे क्याः आने वाले के लिए व्यापार नीति

इसमें कोई दोराय नहीं कि एक दिन भारत की अर्थव्यवस्था ग्रामीण अर्थव्यवस्था से आधुनिक, शहरी और औद्योगिक अर्थव्यवस्था में ज़रूर तब्दील होगी। ऐसी अर्थव्यवस्था, जिसमें अधिकतम 10% कार्यबल ही कृषि में लगा होगा। लेकिन सवाल यह है कि इस परिवर्तन में कितना समय लगेगा। 100 साल लगेंगे या इससे भी ज्यादा समय लगेगा? क्योंकि तकरीबन हर पश्चिमी देश से लेकर पूर्वी एशिया तक हर एक देश को यह सफर तय करने में करीब तीन-चार दशक तो लग ही गए हैं। इसलिए भारत को अपनी व्यापार नीति पर पुनर्विचार करने की जरूरत है।

अब तक, विश्व में ऐसा कोई देश नहीं है, जिसने विश्व बाजारों को फतह किए बिना रातों-रात परिवर्तन की सुबह देखी हो। तेजी से कायापलट करने वाले देशों की सरकारों को भी यहां-वहां हस्तक्षेप करना ही पड़ा है और यह भी तथ्य है कि उन सरकारों द्वारा किए गए उपाय ऐसे नहीं रहे हैं, जो उनके व्यापार के विस्तार पर विपरीत असर डालें। इसके अतिरिक्त, ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इन उपायों का योगदान वृद्धि को रफ्तार देने के बजाय धीमा करने में रहा है। मैंने अपनी किताब 'फ्री ट्रेड एंड प्रॉस्पेरिटी' में इन रुझानों को तफसील से दर्ज किया है।

आज देश का 42.5% कार्यबल कृषि कार्यों के जरिए रोजगार में लगा है। तेजी से परिवर्तन के लिए इस कार्यबल का लगभग आधा हिस्सा तो अगले 15 वर्षों में उद्योगों और सेवाओं में होना चाहिए। ऐसा करने के लिए उद्योगों और सेवा क्षेत्र में बड़ी संख्या में रोजगारों का सृजन करना होगा। यह रोजगार सृजन निम्न-कौशल वर्ग के लिए किया जाना चाहिए, जहां आकर्षक वेतन भी मिले। और यह केवल एक ही तरीके से हो सकता है, अनुकूल परिवेश बनाने से। ऐसा परिवेश, जहां कपड़े, जूते-चप्पल, फर्नीचर, खिलौने, रसोई का सामान, स्टेशनरी, कार्यालय उत्पाद और सामान्य इलेक्ट्रिक तथा इलेक्ट्रॉनिक डिवाइसों जैसे श्रम-गहन क्षेत्रों में सफल निर्यात उन्मुख कंपनियां उभरकर आ सकें और आगे बढ़ सकें। ये ऐसे क्षेत्र हैं, जो सीमित पूंजी निवेश के जरिए बहुतों को अच्छे रोजगार दे सकते हैं। लेकिन, चूंकि भारत को ऐसे रोजगारों की बड़ी संख्या में जरूरत है, इसलिए निर्यात बाजारों में सफलता महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, अकेले वैश्विक कपड़ा बाजार ही 800 बिलियन यूएस डॉलर का है। यदि भारत अगले एक दशक में इसके 15% से 20% हिस्से में भी पैठ बना लेता है, तो अच्छे वेतन वाले लाखों रोजगारों का सृजन हो सकता है।

निर्यात बाजारों में सफलता के लिए सबसे पहले और सबसे जरूरी पहलू है, खुली व्यापार व्यवस्था का होना। टैरिफ बढ़ाने के बजाय भारत को उन्हें कम करना चाहिए। भारत को अपनी टैरिफ दरें आसियान सदस्य देशों में मौजूदा टैरिफ दरों के समान न्यून स्तर पर लाने के प्रयास करने चाहिए। सामान्य-सा तथ्य है, जिसे हमें ध्यान में रखना चाहिए कि व्यापार उदारीकरण के क्रम में जब हम आयात बढ़ाते हैं, तो अतिरिक्त आयातों का समायोजन करने के लिए निर्यातों का विस्तार भी करते हैं। जैसे-जैसे आयात और निर्यात विस्तार की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे हम छोटी-प्रतिस्पर्धी कंपनियों में न्यून वेतन वाले रोजगारों के स्थान पर निर्यात उन्मुख कंपनियों में बेहतर वेतन वाले रोजगार सृजित कर लेते हैं।

व्यापार उदारीकरण के दो संभावित तरीके हैं। पहला, हम अपने सभी व्यापार भागीदारों के लिए टैरिफ घटा दें। भारत ने 1991-92 से 2007-08 तक इसी रणनीति पर सफलतापूर्वक काम किया है और भारत का अपना अनुभव बताता है कि इसका प्रभावी परिणाम देखने को मिला है। यह सबसे वांछनीय तरीका है। दूसरा, भारत अपने प्रमुख व्यापार भागीदारों के साथ मुक्त व्यापार समझौते कर सकता है। शुरुआत में इसके लिए यूनाइटेड किंगडम और यूरोपीय संघ अच्छे विकल्प हो सकते हैं। ये दोनों बड़े बाजार हैं और उनके कृषि क्षेत्र भारत के किसानों की आजीविका के लिए किसी भी तरह का खतरा उत्पन्न नहीं करते हैं।

ऑटोमोबाइल और स्पिरिट जैसे उत्पादों के आयातों के उदारीकरण में थोड़ा लचीलापन लाते हुए और उनके श्रम बाजार को भारतीय कामगारों के लिए खोलने पर दिए जाने वाले जोर को छोड़ने से भारत इन बड़े बाजारों को अपने निर्यातों के लिए शुल्क-रहित एक्सिस के संबंध में निगोशिएट कर सकता है।

न्यून कॉर्पोरेट टैक्स दर के अलावा, श्रम कानून सुधार, वस्तु एवं सेवा कर तथा आधुनिक दिवाला कानून पहले ही लागू किए जा चुके हैं। बड़ा निजीकरण कार्यक्रम योजना में है और वित्तीय क्षेत्र को दबावरहित बनाने के उपाय किए जा रहे हैं। भारत वैश्विक बाजारों में प्रमुखता से उभरने को तैयार है। लेकिन इसके लिए एक और अनिवार्य उपाय जरूरी हैः और अधिक उदार व्यापार व्यवस्था। इसमें कोई दोराय नहीं है कि पहले ही किए जा चुके और प्रस्तावित सुधारों को देखते हुए, कोविड के बाद के दो दशकों में भारत की गिनती सालाना 8% की वृद्धि दर से बढ़ने वाले देशों में की जा सकती है। किन्तु और अधिक उदार व्यापार व्यवस्था इस वृद्धि दर को दोहरे अंकों में ले जाने की संभावनाओं को बलवती करती है।

इंडिया एक्ज़िम बैंक

सेंटर वन बिल्डिंग, 21वीं मंज़िल, वर्ल्ड ट्रेड सेंटर कॉम्प्लेक्स, कफ परेड, मुंबई-400 005

फोन: +91 22 22172600 | फैक्स: +91 22 22182572 | ई-मेल: ccg@eximbankindia.in

वेबसाइट: www.eximbankindia.in | www.eximmitra.in

Follow us on